nfyr thou dk nLRkkoat % nfyr vkRedFku

&Mk- foey Fkkjkr

हिन्दी साहित्य में 'दलित साहित्य' आज चर्चा के केन्द्र मे है। दलित साहित्य की अवधारणा क्या है? दलित लेखक कौन और किसे माना जाना चाहिए? दलित साहित्य, साहित्य की श्रेणी में आता है अथवा नहीं? सौन्दर्यशास्त्र के मानदंडों पर वह खरा उतारता है अथवा नहीं। इन सभी सवालों के साथ दलित साहित्य और लेखकों, चिंतकों का दोहरा संघर्ष चल रहा है।

हिन्दी साहित्य में जिस सत्ताधारी और वर्चस्ववादी विचारधारा का आज तक प्रभाव और प्रभुत्व रहा है, उसके लिए हाशिये पर स्थित, बहिष्कृत करार दिए गए समाज द्वारा साहित्य जैसे विशिष्ट क्षेत्र में दखल देने पर ऐतराज करना उनकी नजर में स्वाभाविक ही था।

धर्माधिष्ठित वर्ण व्यवस्था और जातिव्यवस्था द्वारा जिनका समाज में एक निश्चित स्थान बना दिया हो, जन्मना ही जिसका सामाजिक स्तर आर्थिक स्थिति और सांस्कृतिक दायरा तय कर दिया हो, मानवीय अधिकारों से वंचित रखकर एक तंग दायरे में रहते हुए संकुचित सोच के साथ जीने की आदत डाली हो। क्या वही इन्सान चेतनशील होकर आज धर्म ब्राह्मणव्यवस्था की पैदाईश सामंतवाद पूंजीवाद, जातिवाद और शोषण के विरोध में संघर्ष के लिए उठ कर खड़ा हुआ है? सामाजिक बदलाव की भाषा के साथ नए समतामूलक समाज व्यवस्था की स्थापना करने के लिए प्रतिबद्ध हो चुका को, तो यह प्रश्न उनके लिए आश्चर्य की ही बात होगी। जो सदैव सत्ताधरी, संपत्तिशाली और श्रेष्ठतम बने रहने के लिए आजीवन प्रयास करते रहे हैं, और अपने श्रेष्ठत्व को मनवाने के लिए एक ऐसे दास वर्ग का निर्माण करके उसे उसी तरह बनाए रखने में जी जान से जुटे हुए हों। क्या वे यह मान सकते हैं कि कल तक बेजुबान बना रहा अमानवीय उत्पीड़न और अपमान को सहते रहने के बाद भी बोल नहीं सका, आज अपने शब्दों में प्रलयंकारी तेज भर कर, उस अमानवीय उत्पीड़न, अधिकारों के हनन और अपमान, अवहेलना, वेदना का हिसाब मांग रहा है। जाहिराना तौर पर उसके जीवन को नरकतुल्य बनाने वालों से सवाल कर रहा है। गलीज और दरिद्र जीवन को उसके हिस्से में जबरदस्ती थोपने वाली धर्म और जाति व्यवस्था की चीरफाड़ कर रहा हो। अपने अस्तित्व के प्रति भान आए इस चेतनाशील साहित्य की ही एक शक्तिशाली विधा 'दलित आत्मकथन' की कुछ मुख्य विशेषताओं पर चर्चा करें।

दलित आत्मकथन आज दलित समुदाय के विविध आयामों को अपने अंदर समेटकर शोषण के हर उस पहलू की एक समाजशास्त्र की चिकित्सक दृष्टि से चीरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अंर्तसंबंधों की पड़ताल करता हुआ दिखाई देता है। दलित आत्मकथाओं में उपस्थित समस्या और प्रश्न व्यक्तिगत संदर्भों से नहीं बल्कि समुदायगत संदर्भों से जुड़कर उभरते है। जब दलित रचनाकर अपने जीवन अनुभवों के माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी को रचनात्मक अभिव्यक्ति देता है तो वह संपूर्ण दलित समुदाय के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों को उजागर करता है। हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथन की विधा के अंतर्गत समाहित रचनाएँ अभी संख्या में कम हैं, लेकिन सैकड़ों हिन्दी साहित्य की रचनाएँ जहाँ दलित जीवन की वास्तविकता को उसके सच्चे रूप में अभिव्यक्ति देने में सक्षम नहीं हो सकती, वहाँ केवल एक दलित आत्मकथन संपूर्ण व्यवस्था और उससे जुड़ी शोषण–संस्थाओं के शोषण, जटिलता, घृणित परंपरा और साजिशों को हमारे समक्ष खोलकर देख देती है। जैसे भारतीय साहित्य में दलित साहित्य का आरंभ मराठी दलित साहित्य द्वारा हुआ या वैसे ही आत्मकथानात्मक रचनाओं की शुरुआत सबसे पहले मराठी दलित साहित्य में हुई है।

मराठी में दलित आत्मकथनों ने एक नयी सशक्त विधा का निर्माण किया है जिसके अंतर्गत दया पवार का 'बलूत', लक्ष्मण माने का 'उपरा' लक्ष्मण गायकवाड़ का 'उचल्या' बेबी कांवले का 'जिणं आमुचं' कुमुद पावड़े का 'अंतः स्फोट', शरण कुमार लिंबाले का 'अक्करमासी' जैसी रचनाएँ शामिल हैं। दलित समुदाय से इतर जो खानाबदोश जातियाँ हैं, जिनके न कोई गाँव है न ठिकाना, ऐसे समुदायों में जन्में लेखकों ने जीवन के त्रासद अनुभवों को शब्दबद्ध करके इस संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष खड़ा किया है।

मराठी दलित साहित्य में आत्मकथनों के सृजन का दायरा बहुत विस्तृत है। केवल दलित समुदायों की रचनाओं तक ही यह सीमित नहीं है, बल्कि उन सभी उत्पीड़ित समुदायों के जीवन यथार्थ के दस्तावेजों को आत्मकथनों द्वारा समेटकर मुक्तिकामी साहित्य विमर्श के रूप में विकसित किया जा रहा है। मराठी दलित आत्मकथन और हिन्दी आत्मकथन दोनों ही दलित मुक्ति आंदोलन से निर्मित चेतना की ही रचनात्मक अभिव्यक्ति है। और दलित मुक्ति आंदोलन के प्रणेता डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की विचारधारा से प्रस्फुटित यह साहित्यिक आविष्कार है। डॉ. अम्बेडकर ने साहित्य शक्ति के बारे में कहा था– ''हमारे देश में उपेक्षितों, दलितों का बहुत बड़ा संसार है, इसे भूलना नहीं चाहिए। उनकी वेदना, दनकी व्यथा को संवेदनशीलता से समझने की कोशिश करो और अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करो।'' दलित आत्मकथनों ने इस क्रांतिकारी विचार को आत्मसात करके व्यक्तिगत अनुभूति को सामाजिक चेतना के रूप में तीव्र अभिव्यक्ति दी है।

nfyr thoukuHko dh ikef.kd vfHk0;fDr

अपमान बोध को जगाते, वेदना की गहनता को बढ़ाते, उत्पीड़न के अनुभवों को फिर से याद करके रचनात्मक अभिव्यक्ति तक पहुँचाना असीम पीड़ा को फिर से भोगना है। दलित लेखक के लिए बीते हुए कल को याद करके जीवन त्रासद अनुभव को सिलसिलेवार तरीके से रचनात्मक रूप देना, एक असह्य पीड़ा को फिर से भोगने जैसा ही है। दलित लेखकों ने प्रत्यक्ष अपमानित होकर, असहनीय वेदना को दलित जीवन का प्रारब्ध मानकर सहा था। लेकिन आंबेडकर चिंतन को आत्मसात करने पर तेजोमय दिशा की ओर अग्रसर होते हुए अंधकारमय अतीत के लिए जिम्मेदार व्यवस्था और श्रेष्ठता का ढोंग रचाते आभिजात्यों के समक्ष उसने हजारों हजार प्रश्न खड़े किए है। उसकी सघन होती पीड़ा का अहसास असहनीय होकर विद्रोह के रूप में फूट पड़ती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में ऐसी ही पीड़ा को झेलने के प्रसंग को याद करते हुए लिखते हैं–''अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ–बहन की गालियाँ देते थे। सुन्दर लड़कों के बाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपना करते थे।''

एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, ''क्या नाम है बे तेरा'?''

''ओम प्रकाश'', मैंने डरते–डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया।

हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी।

'चूहड़े का है?' हैडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

ठीक है'–''वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़कर झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो ये खानदानी काम है। जा फटाफट लग जा काम पे।''

इस आदेश का पालन करते–करते तीन दिन बीत गए। ज्ञान प्राप्ति के लिए स्कूल में गए दलित बच्चे को उसकी जाति और खानदानी काम की याद दिलाकर, सबसे सामने अपमानित करके, उसके अधिकार और अस्तित्व को नकारना सवर्ण मानसिकता का ही प्रदर्शन है।

दलित लेखकों की समतामूलक, समाज व्यवस्था की स्थापना के प्रति प्रतिबद्धता के कारण दलित जीवन की त्रासदी से पुनः गुजरने जैसी पीड़ादायक अनुभूति को फिर से झेलते हुए सामाजिक दायित्व पूरा करने के लिए प्रमाणिकता के साथ (गुजरे हुए जीवन प्रसंगों, घटनाओं, अपमान, अवहेलना को) प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि एक विशिष्ट शोषण व्यवस्था द्वारा रचे गए षड्यंत्र के तहत यह सब हो रहो है। देश की संपूर्ण उत्पादन व्यवस्था में केवल एक श्रम बेचने वाले साधनहीन गुलाम की जिन्दगी जीने के लिए उसे बाध्य किया गया है। किसी आकांक्षा, आशा, इच्छा या सपनों को पूरा होना उसके हिस्से में आया ही नहीं है। बचपन में और बच्चों की तरह पाठशाला में जाकर शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए सहज साध्य नहीं बल्कि एक त्रासद अनुभव है।

''अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया .....अपनी माँ.....''

उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर थर कांपने लगा था कि त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, ''मास्साब, वो बैआ है कौणे में।''

''हेडमास्टर ने लपक कर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दवाब मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू.....नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ दूंगा।''

अपने अपने पिंजरे' में मोहनदास नैमिशराय भी ब्राह्मणवादी परंपराओं और सोच को ढो रहे सवर्णों द्वारा बार–बार प्रताड़ित होने की त्रासद घटनाओं को याद करते हुए लिखते हैं, ''हमारे स्कूल को बाहर के लोग अक्सर चमारों का स्कूल कहा करते थे। जैसे चमारों का कुआं, चमारों का नल, चमारों का नीम, चमारों की गली, चमारों की पंचायत आदि आदि, वैसे ही स्कूल से जड़ी थी हमारी जात। जात पहले आती थी, स्कूल बाद में। यही कारण था कि इस स्कूल में कभी भी गिनती के पूरे अध्यापक न हुए थे। दो–दो और कभी–कभी तीन–तीन कक्षाओं को एक–एक अध यापक ही संभालता था। स्कूल में न नल था, न ही टायलेट और न खेल का मैदान।''

''अबे–तबे के बिना तो मास्टर बात ही न करते थे। यही नहीं, माँ–बाप के नाम से भी अधिकतर बच्चे को बुलाया जाता था। माँ–बाप के भी बिगड़े हुए नाम थे, अबे वो सुल्लड के, अबे वो कुल्लड़ के, अबे वो डोमा के।''

ज्ञान की तलाश में जाते दलित अबोध बालक–बालिकाएँ बचपन से ही अपमानित होकर, डरे–डरे, सहमे–सहमे रहते हुए अपमान और कुंठाओं से ग्रस्त होने के लिए मजबूर हैं। इससे उनका व्यक्तित्व बौना बना रहता है, आर्थिक अभाव को झेलता, जाति के कारण अपमानित होता दलित बालक और युवा इसी माहौल मे शिक्षित होने के लिए बाध्य है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मानसिक दवाब में उनके गुणों का, व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। बाद में नौकरी के लिए साक्षात्कार देते समय इन दवाबों से घिरे हुए वे 'योग्य नहीं है' जैसे अपमानजनक शब्दों को और कुत्सित नजरों को झेलते रहते हैं।

'दोहरा अभिशाप' की दलित लेखिका कौसल्य वैसत्री पांचवी कक्षा में प्रवेश के बाद, अर्थिक अभाव में शिक्षा पूरी हो पायेगी या नहीं इस कशमकश में बपने बाबा की दीनता को देखकर अपमानित और दुखी होकर इस जाति–व्यवस्था

से नफरत करने लगती है, ''जब बड़ी भिड़े कन्याशाला में पांचवीं कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा थी। एक रुपया बारह आने। परन्तु अब सब पढ़ रहे थे। घर के बच्चों की फीस देना बाबा–माँ के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। बाबा ने हेडमिस्ट्रेस से बहुत विनती की कि वे फीस नहीं दे सकते। बहु मुश्किल से वह मान गई और कहा कि पढ़ाई अच्छी न करने पर स्कूल से निकाल देगी। बाबा ने आश्वासन दिया कि वे इसका ख्याल नखेंगे। बाबा ने हेडमिस्ट्रस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से, क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं कर सकते थे। बाबा का चेहरा मायूस लग रहा था उस वक्त। मेरी आंखें भर आई थी।'' ओमप्रकाश, मोहनदास और कौसल्या का बचपन आर्थिक अभाव, तिरस्कार, हीनबोधता के अहसास को झेलते हुए बीता है। यही अनुभव हर एक दलित बालक और बालिका के हिस्से में आता है तो बचपन की कोमल भावनाओं को झुलसा कर रख देता है। बात–बात पर चमार, चमारे भंगड़, भंगी या महार ढेढ़ नाम से पुकारा जाना उनकी सामाजिक स्थिति को बार–बार दोहरा कर उनमें बहिष्कृत होने के अहसास को जगाता रहता है।

दलित लेखकों को द्वारा धार्मिक, समाजिक, सांस्कृति मूल्यों की छानबीन शुरू की है। धर्म के नाम पर दलितों के साथ सौतेला व्यवहार करने वाले सवर्ण समाज के दोगलेपन को वे खोल रहे हैं।

दलितों को हिंदू होकर भी हिंदू मंदिरों में प्रवेश नहीं दिया जाता। नैमिशराय अस्पृश्यता के इस तीखे अनुभव को याद करके लिखते हैं – मन्दिर और सवर्णों के लिए हम शूद्र थे, अछूत थे, दलित थे, पर इंसान न थे। हमारी छाया भी उनके लिए लिए अपवित्र थी। एक दिन मंदिर के बाहर प्रसाद लेते समय पुजारी की अंगुलियाँ जब लेखक के एक हाथ से छू गई, तो पुजारी ने गुस्से और घृणा से भरकर कहा था – तू चमार का है न। सब भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढोरों से प्रसाद दूर से लिया करो।' धर्म के ठेकेदारों द्वारा धर्म का सहारा लेकर अपने आपको श्रेष्ठ मान बैठना और उसके लिए नए–नए आडंबर रचना पुरोहितवादियों की अनिवार्यता थी। दलितों को अत्यंत तुच्छ, हीन बनाए रखने में ही इस कट्टर पुरोहित का हित जुड़ा हुआ है।

दलित समाज और दलित समाज का व्यक्ति सतत् रूप से संघर्ष करता हुआ नजर आता है। यह संघर्ष वह जीने के लिए, भूख मिटाने के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए, एक दो बीघे जमीन बचाने के लिए, अपने समाज, परिवार की स्त्रियों की आबरू बचाने के लिए करते हैं। दलित स्त्री के दोहरे शोषण से बचने के हर संभव प्रयास यहाँ नाकामयाब होते रहे हैं। कौसल्या बैसंत्री एक दलित स्त्री है, जिसे कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ता है। बचपन से युवावस्था तक शिक्षा हासिल करते हुए सतत् हीनत्व बोध का सामना करना पड़ता है। अभाव ग्रस्त परिवार में एक –एक बच्च नया संकट बनकर आता है। शिक्षा से इंसान तरक्की कर सकता है, नया जीवन रचने की उसमें क्षमा पैदा हो जाती है, यह जानकर जब तब कौसल्या के पिता अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए दर–दर की ठोकरें खाकर, अपमानित होते रहते हैं। अपमान के विषैले घूंट पीकर बच्चों के भविष्य को सुन्दर बनाने का प्रयास करते दिखते हैं, ''बाबा ने अट्ठारह वर्ष बेकरी में नौकरी की। वे सवेरे ही चार बजे बेकरी में जाते थे। कभी ज्यादा काम हो तो तीन बजे ही चले जाते थे। बेकरी वाले ने अट्ठारह वर्ष में बाबा और दूसरे नौकरों को एक पैसा भी पगार में नहीं बढ़ाया। बाबा की जो तनख्वाह नौकरी में लगने के समय थी, उतनी ही मिलती थी। बाबा ने भी बेकरी वालों से पैसा बढ़ाने के लिए नहीं कहा। बेकरी की नौकरी छोड़ने पर बाबा कबाड़ी का धंधा करने लगे। वे अंग्रेजों के घर से बहुत सुंदर–सुंदर बोतलें, टिन के डिब्बे, अंग्रेजी, हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ आदि लाकर बेचते थे। माँ की पगार से ही घर चलता था। बाबा के सामान की कभी अच्छी बिक्र होती थी, कभी नहीं। बस भाजी का खर्चा निकल आता था।''

आर्थिक अभाव में शिक्षा ग्रहण करना, यह लगभग सभी दलित परिवरों के बच्चों के जीवन का सत्य है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का परिवार आर्थिक अभाव को झेल रहा था, लेकिन बच्चें को पढ़ा लिखाकर इंसान बनाने की चाह सबके मन में थी। स्कूल में बच्चों को 'चूहड़े के' कहकर पुकारने और उन्हें आगे पढ़ने से रोकने के प्रयास कई बार सवर्ण बच्चों और शिक्षकों के द्वारा होते। लेकिन इस सबसे वे जूझते रहते। निराशा जब ज्यादा बढ़ती तो कहते, ''अबे सोहरो, म्हारे जाकत दो अच्छर सीख लेंगे तो थारा के बिगड़ जागा.....'' बच्चे को पढ़ाकर काबिल इंसान बने देखना हर दलित माँ–बाप का सपना होता है। कठिन स्थितियों में भी बच्चे की शिक्षा में खंड न पड़े इसकी कोशिश करते हुए दिखाई देते हैं। ओमप्रकाश इस पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं–''मैं पांचवीं कक्षा पास कर चुका था। छठीं में दाखिला लेना था। गाँव में ही 'त्यागी इंटर कॉलेज, बरला था, जिसका नाम बदलकर अब बरला इंटर कॉलेज, बरला कर दिया गया था। घर के जो हालात थे उनमें दाखिला लेने का तो सवाल ही नहीं उठता था। जहाँ रोटी ही नसीब न हो, वहाँ पढ़ाई की बात कोई कैसे सोच सकता है?'' लेकिन माँ–बाप और परिवारजनों के साहस और प्रयास से ओमप्रकाश छठीं कक्षा में दाखिला लेने में सफल हो जाता है। लेकिन हर पल अपमानित होकर भी दिल कड़ा करके भविष्य को बेहतर बनाने का स्पप्न पूरा करने की जिद के साथ आगे बढ़ते रहना दलित छात्रों के लिए अनिवार्य शर्त होती, ''कोई गलती हो जाने पर पीटने के बजाय मेरी कमीज पकड़कर ऐसे खींचते थे कि कमीज अब फटी.....मेरा पूरा ध्यान अपनी कमीज पर रहता था। अपनी ओर खींचते हुए पूछते, सूअर की कितनी सांटे (सूअर की गोश्त की बोटी) खाई है? एक पाव तो खा ही लेते होंगे।''

जब मास्टर साहब ऐसी बातें कहते, मुझे रोना आ जाता थां आंखे छलक जाती थीं। मास्टर साहब की बातें सुनकर पूरी कक्षा हंसने लगती थी। प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष, वर्तमान के साथ समझौता और भविष्य की ओर निश्चित ध्येय प्राप्ति के लिए बढ़ते रहना दलितों, वंचितों के जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गया है। इस प्रकार संघर्ष न केवल शिक्षा प्राप्त करने तक सीमित है बल्कि जीवन के हर उस मोड़ पर, जो इन्हें नए बदलाव की ओर ले जाता है। दलित आत्मलेखन में दलित रचनाकारों द्वारा दोहरे संघर्ष झेलने के प्रसंग बार–बार चित्रित होते हैं। एक ओर इन्हें सवर्ण और जातिवादी अहंकार के कारण निर्माण प्रसंगों को झेलना पड़ता है, दूसरी ओर अपने ही समाज के अंतर्गत विभिन्न सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं और अंधविश्वास के कारण फैले अंधकार को भी दूर करना पड़ता है। दलितों के दूल्हे को शादी के बाद सवर्णों के घर पर जाकर 'सलाम' करने की एक अपमानित होने की पीड़ा को भर दिया था।

''नहीं! सलाम ने मेरा पानी सोख लिया है।'' मेरी बात के मर्म को वह बेचारा अनपढ़ समझा या नहीं, मैं नहीं जानता। मैं चुपचाप एक किनारे बैठ गया था, अपनी थकान मिटाने के लिए। 'सलाम' के लिए दर–दर भटकने की पीड़ा ने मुझे बेहद थका दिया था। मेरे मन में जैसे कुछ उबल रहा था।''

पिताजी के पूछने पर ''ऐसे क्यूं बैठे हो मुंशी जी?''

ओमप्रकाश के मन की व्यथा इस प्रकार फूट पड़ी थी ''ये सलाम के लिए जाना क्या ठीक है? अपनी ही शादी में दूल्हा घर–घर घूमे.....बुरी बात है। बड़ी जात वालों के दूल्हे तो ऐसे कहीं नहीं जाते, ये दुल्हन बरला जाकर ऐसे ही घर–घर जाएगी सलाम करने। देखने–सुनने में बहुत साधारण–सी बात लग सकती है लेकिन दूल्हा हो या दुल्हन, शादी के पहले ही दिन उनमें हीनता–बोध भर दिया जाता है।''

धर्म की आड़ में ब्राह्मणवादी परंपराओं के द्वारा दलित समाज को हमेशा हीनता–बोध से दबे रहने के लिए मजबूर भी किया जाता रहा है। बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र में दलित दुल्हन को

गाँव के प्रभावशाली सवर्ण जमींदार, पाटिल, सामंतों के साथ सुहागरात बितानी पड़ने की शर्मनाक परंपरा इसी घृणित ब्राह्मणवादी परंपरा की देन है जिसे तोड़ने में सैकड़ों वर्ष लग गए हैं। लेकिन आज भी बिहार जैसे राज्य के कुछ क्षेत्र में जमींदारों के दबाव और भय से इस प्रथा का चलन जारी है। दलितों को मृत्यु भय के कारण इसे आज भी बर्दाश्त करना पड़ रहा है। जो भी विरोध करने की कोशिश करता है, उसे मार दिया जाता है। शासन इस परंपरा को नष्ट करके दलितों को सुरक्षा नहीं दे पाता है, क्योंकि कोई भी शासन धार्मिक और जातिगत समस्याओं और परंपराओं को नष्ट करने के प्रयास करके सत्ताधारियों की नाराजगी नहीं झेल सकता।

दलित महिलाओं के प्रति सवर्ण समाज के हीन दृष्टिकोण के कारण दलित महिलाएँ सदैव अपमानित प्रताड़ित और शोषित होने को बाध्य हैं। इन्हें इन्सान की जगह भोग की वस्तु समझा जाता रहा है। आज भी इस रवैये में कोई बदलाव नजर नहीं आता। गाँवों में हर प्रकार के परिश्रम से जुड़ी दलित महिलाएँ निरंतर झिड़कियाँ या अपमानजनक शब्दों को झेलती रहती हैं। विवशता, अभाव और दीनता के कारण वे इसका विरोध करने से डरती हैं। 'अपने अपने पिंजरे – में नैमिशराय ऐसी ही एक घटना को चित्रित कर रहे हैं – बस्ती से कुछ औरते जंगल जाती थीं। वे वहाँ मेहनत–मजदूरी करती थीं। उनमें कुछ घास लाती थीं तो कुछ जलावन की सूखी लकड़ी। कुछ मक्का के खेत से भुट्टे, कुकड़ी तोड़ने का काम करती और कुछ कोल्ड स्टोरेज से आलू, प्याज आदि की छंटाई करती थीं। वे नफरी कहलाई जाती थीं पर उन्हें नफरी कोई न कहता था। वे जवान हो या बूढ़ी उन सभी को चमारी कहकर ही संबोधित किया जाता था। खेत और कोल्ड स्टोरज हिंदुओं के भी थे और मुसलमानों के भी। अधिकांश महिलाओं को इक्कों में सुबह–ही–सुबह भेड़–बकरियों की तरह भरकर लाया जाता था। वह वहीं से आवाजें लगाता था–''अरी चलो–चलो री चमारियों। जल्दी करो सुबै हो गई है।'' और कपड़े में सूखी रोटी के टुकड़े बांधे हुए वे औरतें अपने–अपने घरों से निकलकर इक्के में बैठने लगतीं। इक्के पर बैठा मुसलमान एक–एक कर हाकिम की तरह उनकी गिनती करता।' दलितों को इन्सानियत की नजर से न देखकर भेड़ बकरियों के रूप में देखना हिन्दू समाज व्यवस्था की मानसिकता बन चुकी है जिसका प्रभाव इस्लाम के मानने वालों पर भी देखा जा सकता है।

गाँवों से पढ़–लिखकर और अच्छे ओहदों पर दलितों के प्रति सवर्णों का रवैया ना तो गाँवों में और ना ही शहरों में ही बदला है। ओमप्रकाश वाल्मीकि को जाति के प्रश्न ने जिस कदर तकलीफ दी है वे इसे बयान करते हैं। ओमप्रकाश के मित्र कुरेशी के कहने पर दोनों डी.एस.पी. के घर पर उनसे मिलने गए। नए कमांडेंट साहब गर्मजोशी से मिले थे। यह सुनकर खुश हुए थे कि मैं बरला का रहने वाला हूँ। अभी ठीक से बैठे भी नहीं थे कि उन्होंने कहा–''बरला तो त्यागियों का गाँव है आप किस जाति से हैं? मैंने कुरेशी की ओर देखा। उसके चेहने का रंग बदल गया था। प्रश्न स्वाभाविक तौर पर पूछा गया था। कमांडेंट के चेहरे पर सहजता थी। किन्तु मैंने जैसे ही अपनी जाति 'चूहड़ा' बताई, वे असहज हो गए थे। बातचीत का सिलसिला भी थम गया था। जैसे बात करने लायक कुछ बचा ही नहीं था। कुरेशी के लिए नया अनुभव था।''

आत्मकथाओं में अभिव्यक्त इन अनुभवों के द्वारा भारतीय जाति व्यवस्था की जटिलता को बहुत स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। आधुनिक विचार और रहन–सहन को अपनाने वाले सवर्ण अधिकारियों को भी जाति के विभाजन और ऊँच–नीच के भेदभाव को भुला देना असंभव लगता है। उनके संस्कारों में यह इतने गहरे पैठा हुआ है कि बिना इसके सहारे एक कदम भी चलना दूभर हो जाए। धर्म, सत्ता, अर्थसत्ता, राजनीतिक सत्ता और संस्कृति के द्वारा प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करके ही यह निर्मित हुई है जिसने मनुष्य को दलित बनाकर रखने में धन्यता मानी और उसके लिए इस संस्कृति ने स्वयं को गौरवान्वित भी अनुभव किया है। हिन्दी साहित्य के पिछले सौ वर्षों के इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाए, तो दलितों को केवल सहानुभूति के आधार पर साहित्य का विषय या पात्र बनाए जाने

के सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे। दलित जीवन का नकार दिखाई देगा। यही स्थिति लगभग अन्य भाषाओं के साहित्य की भी रही है। प्रश्न यह है कि लेखनी का अधिकार जिस वर्ग को सैकड़ों वर्षों से प्राप्त है और सोच–विचार करने की क्षमता भी अगर केवल इसी संस्कृति के पुरोधाओं को हासिल है तो इन परिवर्तन कामी विचारों की अभिव्यक्ति इनके द्वारा होती हुई क्यों नहीं दिखाई देती। जो प्रताड़ित है। क्या वही शोषण के कारणों को जानने और नष्ट करने का प्रयास करते रहें?

अभिजात्य कहा जाने वाला वर्ग प्रस्थापितों की भूमिका को ही निबाहने की कोशिश में लगा रहे। लेकिन शायद इस भूमिका को बदलने का माहौल बनता दिखाई दे रहा है। लाखों कोशिशों के बावजूद अब तक खामोश, अपनी ही बरबादी का तमाशा देखता रहा दलित, शोषित वर्ग इस खामोशी को तोड़ता–नजर आ रहा है। उसने हाथों में वह प्रलयकारी; परिवर्तन की शक्ति पैदा करने वाली कलम पकड़ ली है। जिसका मुख्य उद्देश्य ही है इस विषमतामूलक समाज व्यवस्था को बदलना और समाधिष्टित, स्वतन्त्रता के मूल्यों को मानने वाली न्याय व्यवस्था का निर्माण करना। इन सभी के संकेत आज के हिंदी दलित आत्मकथनों में स्पष्ट रूप से नजर आ रहे हैं। सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्ध दलित आत्मकथनों का यह तेवर परिवर्तन को लाकर एक नए समाज की रचना का दायित्व जरूर पूरा करेगा। हिन्दी दलित साहित्य प्रवाह को अधिक समृद्ध और गतिशील बनाने में दलित आत्मकथनों का विशेष योगदान है। 'अपने अपने पिंजड़े', 'जूठन' और 'दोहरा अभिशाप' जैसे आत्मकथनों द्वारा हिन्दी दलित साहित्य में एक नई विधा का सूत्रपात हुआ है। दलित आत्मकथनों की रचना द्वारा दलितों की व्यथा–वेदनाओं की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के साथ–साथ दलित जीवन के सरोकारों को एक विस्तृत पटल पर उतार कर संपूर्ण समाज के समक्ष आत्म परिचय की चुनौती खड़ी कर दी है। बहिष्कृत दलित समुदाय को सदियों तक जन्म और कर्म सिद्धान्त के झूठे षड्यंत्र में फंसा कर, उसे नियतिवादी और जड़ बनाए रखने वाली संस्कृति के दलित आत्मकथन मुखौटे फाड़ कर फेंक रहा है। यहाँ की तथाकथित श्रेष्ठत्व के अहं से भरी सांस्कृतिक हमलों, शोषण और अन्याय के विरोध में यह रचनात्मक अभिव्यक्ति संघर्ष के लिए तैयार है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में दलित साहित्य का आगमन होकर अब लगभग एक दशक पूर्ण हो रहा है। हिन्दी साहित्य जगत में इसके आगमन का बहुत स्वागत नहीं हुआ। 'साहित्य भी क्या दलित होता है? दलितों द्वारा लिखा गया, इसलिए इसे दलित साहित्य कहा जाए, यह साहित्य के तमाम मूल्यों को क्यों तोड़ रहा है।? तमाम सवाल इस दलित साहित्य की निर्माता के साथ–साथ हिन्दी साहित्यकारों द्वारा उठाए जाते रहे हैं। हिंदी साहित्य की पवित्रता को अब बनाए रखने की कोशिशों में कुछ न कहा जाए, यह साहित्य लालूवाद फैलाने जैसे है। (संपादक 'समीक्षा)।

कुछ ने दबी आवाज में कुछ सराहना की, तो कुछ में कहा दलित साहित्य ने रूढ़िगत साहित्य परंपरा को ध्वस्त किया, हाशिए पर के लोगों ने सृजनात्मक क्षेत्र के अवरोधों को तोड़कर साहित्य के नए सौन्दर्यशास्त्र की निर्मित की है। इन सभी आरोह–अवरोहों के चलते दलित साहित्य एक–एक रचनात्मक कदम बढ़ाता चल रहा है। दलित जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक प्रश्नों को उभार रहा है। बुद्ध के दर्शन व डॉ. आंबेडकर के विचारों से प्रेरणा व ऊर्जा लेकर बहिष्कृत समाज के सदियों के संताप और वेदना को अभिव्यक्ति दे रहा है।

हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील धारा ने भी समाज के इस बहिष्कृत किए गए तबके की जातिगत समस्याओं को उजागर करने का प्रयास नहीं किया। बल्कि मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव में जातिगत मूलभूत समस्या को आधार के स्थान पर अधिरचना में रखकर देखने से मूल समस्या को जानबूझकर समझने का प्रयास नहीं किया। दलितों के

सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक शोषण की उत्पत्ति का सीधा संबंध जाति के साथ है क्योंकि यहाँ जाति जन्मना है कर्मणा नहीं। जन्म और कर्म सिद्धांत के झूठे फैलाए जाल में फंसकर ही तो दलित समाज सदियों तक अपना प्रारब्ध मानकर चुपचाप अमानवीय अत्याचारों को सहता रहा। लेकिन अपने अस्तित्व और अस्मिता का भान आते ही वह पुरातन परंपराओं की जंजीरों को तोड़कर, मुक्त होने की चाहना में डॉ. आंबेडकर द्वारा जलाई मशाल को तेज देता आगे बढ़ता चला जा रहा है।